पचासवाँ संस्करण

२०२१ वि०

मूल्य

~~पचहत्तर नये पैसे~~

१) ~~७५ नये पैसे~~

श्री सुमित्रानन्दन गुप्त द्वारा

साहित्य मुद्रण, चिरगाँव (झाँसी) में मुद्रित ।

तथा

साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी) से प्रकाशित ।

श्री

पूर्वाभास

[१]

पूज्य पिता के सहज सत्य पर
वार सुधाम, धरा, धन को,
चले राम, सीता भी उनके
पीछे चलीं गहन वन को।
उनके भी पीछे लक्ष्मण थे,
कहा राम ने कि "तुम कहाँ?"
विनत वदन से उत्तर पाया—
'तुम मेरे सर्वस्व जहाँ॥"

श्रीगणेशाय नमः

पञ्चवटी

[१]

चारु चन्द्र की चंचल किरणें
खेल रही हैं जल-थल में,
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है
अवनि और अम्बरतल में।
पुलक प्रकट करती है धरती
हरित तृणों की नोकों से,
मानो झीम रहे हैं तरु भी
मन्द पवन के झोंकों से॥

[२]

सीता बोली कि "ये पिता की
आज्ञा से सब छोड चले,
पर देवर, तुम त्यागी बनकर
क्यो घर से मुहं मोड चले?"
उत्तर मिला कि "आर्य्ये, बरबस
बना न दो मुझको त्यागी,
आर्य - चरण - सेवा मे समझो,
मुझको भी अपना भागी॥"

[३]

"क्या कर्त्तव्य यही है भाई?"
लक्ष्मण ने सिर झुका लिया,
"आर्य्य आपके प्रति इस जन ने
कब कब क्या कर्त्तव्य किया?"
"प्यार किया है तुमने केवल!"
सीता यह कह मुसकाईं,
किन्तु राम की उज्ज्वल आँखें
सफल सीप - सी भर आईं॥

[४]

मर्त्यलोक - मालिन्य मेटने
स्वामि-सग जो आई है
तीन लोक की लक्ष्मी ने यह
कुटी आज अपनाई है।
वीर-वश की लाज यही है
फिर क्यो वीर न हो प्रहरी ?
विजन देश है, निशा शेष है,
निशाचरी माया ठहरी॥

[५]

कोई पास न रहने पर भी
जन-मन मौन नही रहता;
आप आपकी सुनता है वह
आप आपसे है कहता।
वीच वीच में इधर उधर निज
दृष्टि डालकर मोदमयी,
मन ही मन बातें करता है
धीर धनुर्धर नई नई—

[२८]

यदि बाधाएँ हुईं हमे तो
उन बाधाओं के ही साथ,
जिससे बाधा-बोध न हो, वह
सहनशक्ति भी आई हाथ।
जब बाधाएँ न भी रहेंगी
तब भी शक्ति रहेगी यह,
पुर मे जाने पर भी वन की
स्मृति अनुरक्ति रहेगी यह॥

[२९]

नही जानती हाय! हमारा
माताएँ आमोद-प्रमोद,
मिली हमे है कितनी कोमल,
कितनी बड़ी प्रकृति की गोद।
इसी खेल को कहते हैं क्या
विद्वज्जन जीवन-सग्राम?
तो इसमें सुनाम कर लेना
है कितना साधारण काम!

[२]

पञ्चवटी की छाया मे है
सुन्दर पर्ण-कुटीर बना,
उसके सम्मुख स्वच्छ शिला पर
धीर वीर निर्भीकमना,
जाग रहा यह कौन धनुर्धर,
जब कि भुवन भर सोता है?
भोगी कुसुमायुध योगी-सा
बना दृष्टिगत होता है॥

[३]

किस व्रत मे है व्रती वीर यह
निद्रा का यो त्याग किये,
राजभोग्य के योग्य विपिन मे
बैठा आज विराग लिये।
बना हुआ है प्रहरी जिसका
उस कुटीर मे क्या धन है,
जिसकी रक्षा मे रत इसका
तन है, मन है, जीवन है!

[१२८]

"तनिक देर ठहरो, मैं देखूं
तुम देवर - भाभी की ओर,
शीतल करूँ हृदय यह अपना
पाकर दुर्लभ हर्ष-हिलोर!"
यह कहकर प्रभु ने दोनो पर
पुलकित होकर सुध-बुध भूल,
उन दोनो के ही पौधो के
बरसाये नव विकसित फूल॥

——

[६]

"क्या ही स्वच्छ चाँदनी है यह,
हे क्या ही निस्तब्ध निशा,
है स्वच्छन्द सुमन्द गन्धवह,
निरानन्द है कौन दिशा?
बन्द नही, अब भी चलते हैं,
नियति-नटी के कार्य्य-कलाप,
पर कितने एकान्त भाव से,
कितने शान्त और चुपचाप!

[७]

है बिखेर देती वसुन्धरा
मोती, सबके सोने पर,
रवि बटोर लेता है उनको
सदा सवेरा होने पर।
और विरामदायिनी अपनी
सन्ध्या को दे जाता है,
शून्य श्याम-तनु जिससे उसका
नया रूप झलकाता है।

[८]

सरल तरल जिन तुहिन कणों से
हँसती हर्षित होती है,
अति आत्मीया प्रकृति हमारे
साथ उन्हींसे रोती है।
अनजानी भूलों पर भी वह
अदय दण्ड तो देती है,
पर बूढ़ों को भी बच्चों-सा
सदय भाव से सेती है॥

[९]

तेरह वर्ष व्यतीत हो चुके,
पर है मानो कल की बात,
वन को आते देख हमें जब
आर्त्त अचेत हुए थे तात।
अब वह समय निकट ही है जब
अवधि पूर्ण होगी वन की;
किन्तु प्राप्ति होगी इस जन को,
इससे बढ़कर किस धन की!

[१०]

और आर्य को, राज्य-भार तो
　　वे प्रजार्थ ही धारेंगे,
व्यस्त रहेगे, हम सबको भी
　　मानो विवश विसारेंगे।
कर विचार लोकोपकार का
　　हमे न इससे होगा शोक,
पर अपना हित आप नही क्या
　　कर सकता है यह नरलोक।

[११]

मझली मां ने क्या समझा था,
　　कि मैं राजमाता हूँगी,
निर्वासित कर आर्य्य राम को
　　अपनी जडे जमा लूंगी।
चित्रकूट मे किन्तु उसे ही,
　　देख स्वय करुणा थकती,
उसे देखते थे सब, वह थी
　　निज को ही न देख सकती॥

[१२]

अहो ! राजमातृत्व यही था,
हुए भरत भी सब त्यागी;
पर सौ सौ सम्राटों से भी
हैं सचमुच वे बड़भागी।
एक राज्य का मूढ़ जगत ने
कितना महा मूल्य रक्खा,
हमको तो मानो वन में ही
है विश्वानुकूल्य रक्खा॥

[१३]

होता यदि राजत्व मात्र ही
लक्ष्य हमारे जीवन का,
तो क्यों अपने पूर्वज उसको
छोड़ मार्ग लेते वन का?
परिवर्तन ही यदि उन्नति है
तो हम बढ़ते जाते हैं,
किन्तु मुझे तो सीधे-सच्चे,
पूर्व-भाव ही भाते हैं॥

[१४]

जो हो, जहाँ आर्य्य रहते हैं
वही राज्य वे करते हैं,
उनके शासन मे वनचारी
सब स्वच्छन्द विहरते हैं।
रखते हैं सयत्न हम पुर मे
जिन्हे पींजरो मे कर बन्द,
वे पशु पक्षी भाभी से हैं
हिले यहाँ स्वयमपि, सानन्द !

[१५]

करते हैं हम पतित जनो मे
बहुधा पशुता का आरोप,
करता है पशु वर्ग किन्तु क्या
निज निसर्ग नियमो का लोप ?
मैं मनुष्यता को सुरत्व की
जननी भी कह सकता हूँ,
किन्तु पतित को पशु कहना भी
कभी नही सह सकता हूँ ॥

[१६]

आ आकर विचित्र पशु-पक्षी
यहाँ बिताते दोपहरी,
भाभी भोजन देती उनको,
पञ्चवटी छाया गहरी।
चारु चपल बालक ज्यों मिलकर
माँ को घेर खिझाते हैं,
खेल-खिझाकर भी आर्य्या को
वे सब यहाँ रिझाते हैं!

[१७]

गोदावरी नदी का तट वह
ताल दे रहा है अब भी,
चंचल-जल कल-कल कर मानो
तान दे रहा है अब भी!
नाच रहे हैं अब भी पत्ते,
मन-से सुमन महकते हैं,
चन्द्र और नक्षत्र ललककर
लालच भरे लहकते हैं॥

[१८]

वैतालिक विहग भाभी के
सम्प्रति ध्यानलग्न-से हैं,
नये गान की रचना मे वे
कवि-कुल-तुल्य मग्न-से है।
बीच बीच मे नर्तक केकी
मानो यह कह देता है—
मैं तो प्रस्तुत हूँ देखे कल
कौन बडाई देता है।

१८]

आँखो के आगे हरियाली
रहती है हर घडी यहाँ,
जहाँ तहाँ झाडी मे झिरती
है झरनो की झडी यहाँ।
वन की एक एक हिमकणिका
जैसी सरस और शुचि है,
क्या सौ-सौ नागरिक जनो की
वैसी विमल रम्य रुचि है?

[२०]

मुनियो का सत्सग यहाँ है,
जिन्हे हुआ है तत्व-ज्ञान,
सुनने को मिलते हैं उनसे,
नित्य नये अनुपम आख्यान।
जितने कष्ट-कण्टको मे है
जिनका जीवन-सुमन खिला,
गौरव गन्ध उन्हे उतना ही
अत्र तत्र सर्वत्र मिला॥

[२१]

शुभ सिद्धान्त वाक्य पढते हैं
शुक-सारी भी आश्रम के,
मुनिकन्याएँ यश गाती हैं
क्या ही पुण्य - पराक्रम के।
अहा! आर्य्य के विपिन राज्य मे
सुखपूर्वक सव जीते हैं,
सिह और मृग एक घाट पर
आकर पानी पीते हैं॥

[२२]

गुह, निषाद, शवरो तक का मन
रखते हैं प्रभु कानन मे,
क्या ही सरल वचन रहते हैं
इनके भोले आनन मे!
इन्हे समाज नीच कहता है
पर हैं ये भी तो प्राणी,
इनमे भी मन और भाव हैं
किन्तु नही वैसी वाणी॥

[२३]

कभी विपिन मे हमे व्यजन का
पडता नही प्रयोजन है,
निर्मल जल, मधु, कन्द, मूल, फल—
आयोजनमय भोजन है।
मन प्रसाद चाहिए केवल,
क्या कुटीर फिर क्या प्रासाद?
भाभी का आह्लाद अतुल है,
मझली माँ का विपुल विषाद!

[२४]

अपने पौंवो मे जन भाभी
भर भर पानी देती हैं,
खुरपी लेकर आप निराती
जव वे अपनी खेती हैं।
पाती हैं तव कितना गौरव,
कितना सुख, कितना सन्तोष !
स्वावलम्व की एक झलक पर
न्योछावर कुवेर का कोष॥

[२५]

सासारिकता मे मिलती है
यह निराली निस्पृहता,
अत्रि और अनसूया की-सी
होगी कहाँ पुण्य-गृहता ?
मानो है यह भुवन भिन्न ही,
कृत्रिमता का काम नही,
प्रकृति अधिष्ठात्री है इसकी,
कहो विकृति का नाम नही॥

[२६]

स्वजनो की चिन्ता है हमको,
होगा उन्हे हमारा सोच;
यहाँ एक इस विपिन-वास मे
दोनो ओर रहा सकोच।
सब सह सकता है, परोक्ष ही
कभी नही सह सकता प्रेम,
बस, प्रत्यक्ष भाव मे उसका
रक्षित-सा रहता है क्षेम॥

[२७]

इच्छा होती है स्वजनो को
एक वार वन ले आऊं,
और यहाँ की अनुपम महिमा
उन्हे घुमाकर दिखलाऊँ।
विस्मित होंगे देख आर्य्य को
वे घर की ही भाँति प्रसन्न,
मानो वन-विहार मे रत हैं
ये वैसे ही श्रीसम्पन्न॥

[३०]

बेचारी ऊर्मिला हमारे
लिए व्यर्थ रोती होगी,
क्या जाने वह, हम सब वन मे
होगे इतने सुख-भोगी।"
मग्न हुए सौमित्रि चित्र-सम
नेत्र निमीलित एक निमेष,
फिर आँखें खोलें तो यह क्या
अनुपम रूप, अलौकिक वेश।

[३१]

चकाचौध-सी लगी देखकर
प्रखर ज्योति की वह ज्वाला,
निस्सकोच खडी थी सम्मुख,
एक हास्यवदनी बाला।
रत्नाभरण भरे अगो मे
ऐसे सुन्दर लगते थे—
ज्यो प्रफुल्ल वल्ली पर सौ सौ
जुगुनू जगमग जगते थे।

[३२]

थी अत्यन्त अतृप्त वासना
दीर्घ दृगो से झलक रही,
कमलो की मकरन्द-मधुरिमा
मानो छवि से छलक रही।
किन्तु दृष्टि थी जिसे खोजती
मानो उसे पा चुकी थी,
भूली-भटकी मृगी अन्त में
अपनी ठौर आ चुकी थी॥

[३३]

कटि के नीचे चिकुर-जाल मे
उलझ रहा था बायाँ हाथ,
खेल रहा हो ज्यो लहरो से
लोल कमल भौंरो के साथ।
दाँयाँ हाथ लिये था सुरभित—
चित्र - विचित्र - सुमन - माला,
टाँगा धनुष कि कल्पलता पर
मनसिज ने झूला डाला!

[३४]

पर सन्देह-दोल पर ही था
लक्ष्मण का मन भूल रहा,
भटक भावनाओं के भ्रम में
भीतर ही था भूल रहा।
पड़े विचार-चक्र में थे वे,
कहाँ न जाने कूल रहा,
आज जागरित-स्वप्न-शाल यह
सम्मुख कैसा फूल रहा!

[३५]

देख उन्हें विस्मित विशेष वह
सुस्मितवदनी ही बोली—
(रमणी की मूरत मनोज्ञ थी
किन्तु न थी सूरत भोली)
"शूरवीर होकर अबला को
देख सुभग, तुम थकित हुए,
संसृति की स्वाभाविकता पर
चंचल होकर चकित हुए!

[३६]

प्रथम बोलना पड़ा मुझे ही,
पूछी तुमने बात नहीं,
इससे पुरुषों की निर्ममता,
होती क्या प्रतिभात नहीं?"
सँभल गये थे अब तक लक्ष्मण,
वे थोड़े से मुसकाये,
उत्तर देते हुए उसे फिर
निज गम्भीर भाव लाये—

[३७]

"सुन्दरि, मैं सचमुच विस्मित हूँ
तुमको सहसा देख यहाँ,
ढलती रात, अकेली अबला,
निकल पड़ी तुम कौन, कहाँ?
पर अबला कहकर अपने को
तुम प्रगल्भता रखती हो,
निर्ममता निरीह पुरुषों में
निस्सन्देह निरखती हो!

[३४]

पर सन्देह-दोल पर ही था
लक्ष्मण का मन भूल रहा,
भटक भावनाओ के भ्रम मे
भीतर ही था भूल रहा।
पडे विचार-चक्र मे थे वे,
कहाँ न जाने कूल रहा,
आज जागरित-स्वप्न-शाल यह
सम्मुख कैसा फूल रहा!

[३५]

देख उन्हे विस्मित विशेष वह
सुस्मितवदनी ही बोली—
(रमणी की मूरत मनोज्ञ थी
किन्तु न थी सूरत भोली)
"शूरवीर होकर अबला को
देख सुभग, तुम थकित हुए,
ससृति की स्वाभाविकता पर
चचल होकर चकित हुए!

[३६]

प्रथम बोलना पड़ा मुझे ही,
पूछी तुमने बात नहीं,
इससे पुरुषों की निर्ममता,
होती क्या प्रतिभात नहीं?"
सँभल गये थे अब तक लक्ष्मण,
वे थोड़े से मुसकाये,
उत्तर देते हुए उसे फिर
निज गम्भीर भाव लाये—

[३७]

"सुन्दरि, मैं सचमुच विस्मित हूँ
तुमको सहसा देख यहाँ,
ढलती रात, अकेली अबला,
निकल पड़ी तुम कौन, कहाँ?
पर अबला कहकर अपने को
तुम प्रगल्भता रखती हो,
निर्ममता निरीह पुरुषों में
निस्सन्देह निरखती हो!

[३८]

पर मैं ही यदि परनारी से
पहले सम्भाषण करता,
तो छिन जाती आज कदाचित्
पुरुषो की सुधर्मपरता।
जो हो, पर मेरे बारे मे
बात तुम्हारी सच्ची है,
चण्डि, क्या कहूँ तुमसे मेरी
ममता कितनी कच्ची है॥

[३९]

माता, पिता और पत्नी की,
धन की, धाम-धरा की भी,
मुझे न कुछ भी ममता व्यापी
जीवन परम्परा की भी!
एक—किन्तु उन बातो से क्या,
फिर भी हूँ मैं परम सुखी,
ममता तो महिलाओ मे ही
होती है हे मजुमुखी॥

[४०]

शूरवीर कहकर भी मुझको
तुम जो भीरु बताती हो,
इससे सूक्ष्मदर्शिता ही तुम
अपनी मुझे जताती हो!
भाषण-भंगी देख तुम्हारी
हाँ, मुझको भय होता है,
प्रमदे, तुम्हें देख वन में यों
मन में संशय होता है॥

[४१]

कहूँ मानवी यदि मैं तुमको
तो वैसा संकोच कहाँ?
कहूँ दानवी तो उसमें है
यह लावण्य कि लोच कहाँ?
वनदेवी समझूँ तो वह तो
होती है भोली-भाली,
तुम्हीं बताओ कि तुम कौन हो
हे रंजित रहस्यवाली?"

[४२]

"केवल इतना कि तुम कौन हो"
बोली वह—"हा निष्ठुर कान्त !
यह भी नहीं 'चाहती हो क्या',
कैसे हो मेरा मन शान्त ?
मुझे जान पडता है, तुमसे
आज छली जाऊँगी मैं ;
किन्तु आगई हूँ जब तब क्या
सहज चली जाऊँगी मैं ?

[४३]

समझो मुझे अतिथि ही अपना
कुछ आतिथ्य मिलेगा क्या ?
पत्थर पिघले, किन्तु तुम्हारा
तब भी हृदय हिलेगा क्या ?"
किया अधर-दशन रमणी ने
लक्ष्मण फिर भी मुसकाये ,
मुसकाकर ही बोले उससे—
"हे शुभ मूर्तिमती माये !

[४४]

तुम अनुपम ऐश्वर्य्यवती हो
एक अकिंचन जन हूँ मैं,
क्या आतिथ्य करूँ, लज्जित हूँ,
वन-वासी, निर्धन हूँ मैं।"
रमणी ने फिर कहा कि "मैंने
भाव तुम्हारा जान लिया,
जो धन तुम्हे दिया है विधि ने
देवो को भी नही दिया!

[४५]

किन्तु विराग भाव धारणकर
बने स्वय यदि तुम त्यागी,
तो ये रत्नाभरण वार दूँ
तुम पर मैं हे बडभागी!
धारण करूँ योग तुम-सा ही
भोग-लालसा के कारण,
पर कर सकती हूँ मैं यों ही
विपुल-विघ्न-बाधा वारण॥

[४६]

इस व्रत मे किस इच्छा से तुम
व्रती हुए हो, बतलाओ ?
मुझमे वह सामर्थ्य है कि तुम
जो चाहो सो सब पाओ।
धन की इच्छा हो तुमको तो
सोने का मेरा भू-भाग,
शासक भूप बनो तुम उसके,
त्यागो यह अति विषम विराग॥

[४७]

और, किसी दुर्जय वैरी से,
लेना है तुमको प्रतिशोध,
तो आज्ञा दो, उसे जला दे
कालानल-सा मेरा क्रोध।
प्रेम-पिपासु किसी कान्ता के
तपस्या यदि करते हो,
तो सचमुच ही तुम भोले हो,
क्यों मन को यो हनते हो ?

[४८]

अरे, कौन है वार न देगी
जो इस यौवन-धन पर प्राण ?
खोओ इसे न यों ही हाहा !
करो यत्न से इसका त्राण।
किसी हेतु ससार भार-सा
देता हो यदि तुमको ग्लानि,
तो अब मेरे साथ उसे तुम
एक और अवसर दो दानि !"

[४९]

लक्ष्मण फिर गम्भीर हो गये,
बोले—"धन्यवाद धन्ये !
ललना सुलभ सहानुभूति है
निश्चय तुममे नृपकन्ये !
साधारण रमणी कर सकती
है ऐसे प्रस्ताव कही ?
पर मैं तुमसे सच कहता हूँ,
कोई मुझे अभाव नही ॥"

[५०]

"तो फिर क्या निष्काम तपस्या
करते हो तुम इस वय मे ?
पर क्या पाप न होगा तुमको
आश्रम के धर्म्मंक्षय मे ?
मान लो कि वह न हो, किन्तु इस
तप का फल तो होगा ही,
फिर वह स्वय प्राप्त भी तुमसे,
क्या न जायगा भोगा ही ?

[५१]

वृक्ष लगाने की ही इच्छा
कितने ही जन रखते हैं,
पर उनमे जो फल लगते हैं,
क्या वे उन्हे न चखते हैं ?"
लक्ष्मण अब हँस पडे और यो
कहने लगे—"दुहाई है !
सेंतमेंत की तापस पदवी
मैंने तुमसे पाई है ॥

[५२]

यों ही यदि तप का फल पाऊँ
तो मैं उसे न चक्खूंगा,
तुमसे जन के लिए यत्न से
उसको रक्षित रक्खूंगा।"
हँसी सुन्दरी भी, फिर बोली—
"यदि वह फल मैं ही होऊँ,
तो क्या करो, बताओ ? बस अब
क्यो अमूल्य अवसर खोऊँ ?"

[५३]

"तो मैं योग्य पात्र खोजूंगा,
सहज परन्तु नहीं यह काम,"
"मैंने खोज लिया है उसको,
यद्यपि नही जानती नाम।
फिर भी वह मेरे समक्ष है,"
चौंके लक्ष्मण, बोले—"कौन ?"
केवल "तुम" कहकर रमणी भी
हुई तनिक लज्जित हो मौन।

[५४]

"पाप शान्त हो, पाप शान्त हो,
कि मैं विवाहित हूँ बाले!"
"पर क्या पुरुष नही होते है
दो-दो दाराओ वाले?
नर कृत शास्त्रो के सब बन्धन
है नारी को ही लेकर,
अपने लिए सभी सुविधाएँ
पहले ही कर बैठे नर!"

[५५]

"तो नारियाँ शास्त्र रचना कर
क्या बहुपति का करें विधान?
पर उनके सतीत्व-गौरव का
करते है नर ही गुणगान।
मेरे मत मे एक ओर हैं
शास्त्रो की विधियाँ सारी,
अपना अन्त करण आप है
आचारो का सुविचारी॥

[५६]

नारी के जिस भव्य-भाव का
साभिमान भाषी हूँ मैं,
उसे नरों में भी पाने का
उत्सुक अभिलाषी हूँ मैं।
बहुविवाह-विभ्राट, क्या कहूँ,
भद्रे, मुझको क्षमा करो,
तुम कुशला हो, किसी कृती को
करो कहीं कृतकृत्य, वरो॥"

[५७]

"पर किस मन से वरूं किसीको ?
वह तो तुमसे हरा गया!"
"चोरी का अपराध और भी
लो यह मुझपर धरा गया!"
"झूठा ?" प्रश्न किया प्रमदा ने
और कहा—"मेरा मन हाय!
निकल गया है मेरे कर से
होकर विवश, विकल, निरुपाय।"

[५८]

कह सकते हो तुम कि चन्द्र का,
कौन दोप जो ठगा चकोर ?
किन्तु कलाधर ने डाला है
किरण-जाल क्यो उसकी ओर ?
दीप्ति दिखाता यदि न दीप तो
जलता कैसे कूद पतग !
वाद्य-मुग्ध करके ही फिर क्या
व्याध पडकता नही कुरग ?

[५६]

लेकर इतना रूप कहो तुम
दीख पडे क्यो मुझे छली ?
चले प्रभात वात फिर भी क्या।
खिले न कोमल कमल-कली ?"
कहने लगे सुलक्षण लक्ष्मण—
"हे विलक्षणे, ठहरो तुम ;
पवनाधीन पताका-सी यो
जिधर-तिधर मत फहरो तुम !

[६०]

जिसकी रूप-स्तुति करती हो
तुम आवेग युक्त इतनी ;
उसके शील और कुल की भी
अवगति है तुमको कितनी ?"
उत्तर देती हुई कामिनी
बोली अंग शिथिल करके—
"हे नर, यह क्या पूछ रहे हो
अब तुम हाय ! हृदय हरके ?

[६१]

अपना ही कुल-शील प्रेम मे
पडकर नही देखती हम,
प्रेम-पात्र का क्या देखेंगी
प्रिय हैं जिसे लेखती हम ?
रात बीतने पर है अब तो
मीठे बोल बोल दो तुम ;
प्रेमातिथि है खड़ा द्वार पर,
हृदय-कपाट खोल दो तुम ॥"

[६२]

"हा नारी ! किस भ्रम मे है तू ,
प्रेम नही यह तो है मोह ,
आत्मा का विश्वास नही यह
है तेरे मन का विद्रोह !
विष से भरी वासना है यह ,
सुधा-पूर्ण वह प्रीति नही ,
रीति नही, अनरीति और यह
अति अनीति है, नीति नही ।।

[६३]

आत्मवचना करती है तू
किस प्रतीति के धोखे से ?
झाँक न झझा के झोके मे
झुककर खुले झरोखे से !
शान्ति नही देगी तुझको यह
मृगतृष्णा करती है क्रान्ति ,
सावधान हो, मैं पर नर हूँ ,
छोड भावना की यह भ्रान्ति ।।"

[६४]

इसी समय पौ फटी पूर्व में,
पलटा प्रकृति-पटी का रंग;
किरण-कण्टकों से श्यामाम्बर
फटा, दिवा के दमके अंग।
कुछ कुछ अरुण, सुनहली कुछ कुछ,
प्राची की अब भूषा थी,
पंचवटी की कुटी खोलकर
खड़ी स्वयं क्या ऊषा थी!

[६५]

अहा! अम्बरस्था ऊषा भी
इतनी शुचि संस्फूर्ति न थी,
अवनी की ऊषा सजीव थी,
अम्बर की-सी मूर्ति न थी।
वह मुख देख पाण्डु-सा पड़कर
गया चन्द्र पश्चिम की ओर;
लक्ष्मण के मुहँ पर भी लज्जा
लेने लगी अपूर्व हिलोर॥

[६६]

चौंक पड़ी प्रमदा भी सहसा
देख सामने सीता को,
कुमुद्वती-सी दबी देख वह
उन पद्मिनी पुनीता को।
एक वार ऊषा की आभा
देखी उसने अम्बर मे,
एक वार सीता की शोभा
देखी विगताडम्बर मे॥

[६७]

एक वार अपने अगो को
ओर दृष्टि उसने डाली,
उलझ गई वह किन्तु,—बीच मे
थी विभूषणो की जाली।
एक वार फिर वैदेही के
देखे अग अदूषण वे,—
सनक्षत्र अरुणोदय ऐसे—
रखते थे शुभ भूषण वे॥

[६८]

हँसने लगे कुसुम कानन के
    देख चित्र-सा एक महान,
विकच उठी कलियाँ डालों में
    निरख मैथिली की मुसकान।
कौन-कौन-से फूल खिले हैं,
    उन्हें गिनाने लगा समीर,
एक एक कर गुन गुन करके
    जुड़ आई भौंरों की भीर॥

[६९]

नाटक के इस नये दृश्य के
    दर्शक थे द्विज लोग वहाँ,
करते थे शाखासनस्थ वे
    समधुप रस का भोग वहाँ।
झट अभिनयारम्भ करने को
    कोलाहल भी करते थे,
पंचवटी की रंगभूमि को,
    प्रिय भावों से भरते थे॥

[७०]

सीता ने भी उस रमणी को
देखा, लक्ष्मण को देखा,
फिर दोनों के बीच खींच दी
एक अपूर्व हास्य-रेखा।
"देवर, तुम कैसे निर्दय हो,
घर आये जन का अपमान,
किसके पर-नर तुम, उसके जो
चाहे तुमको प्राण-समान?

[७१]

याचक को निराश करने में
हो सकती है लाचारी,
किन्तु नहीं आई है आश्रय
लेने को यह सुकुमारी।
देने ही आई है तुमको,
निज सर्वस्व बिना संकोच,
देने में कार्पण्य तुम्हें हो
तो लेने में है क्या सोच?"

[७२]

उनके अरुण चरण-पद्मो मे
झुक लक्ष्मण ने किया प्रणाम,
आशीर्वाद दिया सीता ने—
"हो सब सफल तुम्हारे काम!"
और कहा—'सब बातें मैंने
सुनी नही तुम रखना याद;
कब से चलता है, बोलो, यह
नूतन शुक - रम्भा - संवाद ?"

[७३]

बोली फिर उस बाला से वे
सुस्मित पूवक वैसे ही—
"अजी, खिन्न तुम न हो हमारे
ये देवर हैं ऐसे ही।
घर मे व्याही वहू छोड़कर
यहाँ भाग आये हैं ये,
इस वय मे क्या कहूँ, कहाँ का
यह विराग लाये हैं ये!

[७४]

किन्तु तुम्हारी इच्छा है तो
मैं भी इन्हे मनाऊँगी,
रहो यहाँ तुम अहा! तुम्हारा
वर मैं इन्हे बनाऊँगी।
पर तुम हो ऐश्वर्य्यशालिनी
हम दरिद्र वन-वासी हैं,
स्वामी-दास स्वय है हम निज,
स्वय स्वामिनी-दासी हैं॥

[७५]

पर करना होगा न तुम्हे कुछ,
सभी काम कर लूँगी मैं,
परिवेषण तक मृदुल करो से
तुम्हे न करने दूँगी मैं।
हाँ, पालित पशु-पक्षी मेरे
तग करे यदि तुम्हे कभी,
उन्हे क्षमा करना होगा तो,
कह रखती हूँ इसे अभी!"

[७६]

रमणी बोली—"रहे तुम्हारा
मेरा रोम रोम सेवी,
कहो देवरानी यदि अपनी
मुझे बना लो तुम देवी!"
सीता बोली—"वन मे तुम-सी
एक बहन यदि पाऊँगी,
तो बातें करके ही तुमसे
मैं कृतार्थ हो जाऊँगी॥"

[७७]

"इस भामा विषयक भाभी को
अविदित भाव नही मेरे,"
लक्ष्मण को सन्तोष यही था
फिर भी थे वे मुहँ फेरे।
बोल उठे अब—"इन बातो मे
क्या रक्खा है हे भाभी!
इस विनोद मे नही दीखती
मुझे मोद की आभा भी॥"

[७८]

"तो क्या मैं विनोद करती हूँ !"
बोली उनसे वैदेही,
'अपने लिए रूक्ष हो तुम क्यों
होकर भी भ्रातृ - स्नेही ?
आज ऊर्मिला की चिन्ता यदि
तुम्हें चित्त में होती है,
कि वह विरहिणी बैठी मेरे
लिए निरन्तर रोती है—॥

[७९]

तो मैं कहती हूँ, वह मेरी
बहन न देगी तुमको दोष,
तुम्हें सुखी सुनकर पीछे भी
पावेगी सच्चा सन्तोष।
प्रिय से स्वयं प्रेम करके ही
हम सब कुछ भर पाती हैं,
'वे सर्वस्व हमारे भी हैं'
यही ध्यान में लाती हैं॥

[८०]

जो वर-माला लिये, आप ही
तुमको वरने आई हो,
अपना तन, मन, धन सब तुमको
अर्पण करने आई हो,
मज्जागत लज्जा तजकर भी
तिसपर करे स्वयं प्रस्ताव,
कर सकते हो तुम किस मन से
उससे भी ऐसा बर्ताव ?"

[८१]

मुसकाये लक्ष्मण, फिर बोले—
"किस मन से मैं कहूँ भला ?
पहले मन भी तो हो मेरे
जिससे सुख-दुख सहूँ भला !"
"अच्छा ठहरो" कह सीता ने
करके ग्रीवा - भंग अहा !
"अरे अरे," न सुना लक्ष्मण का
देख उटज की ओर कहा—

[८२]

"आर्यपुत्र, उठकर तो देखो,
क्या ही सुप्रभात है आज,
स्वय सिद्धि-सी खडी द्वार पर
करके अनुज-वधू का साज।"
क्षण भर मे देखी रमणी ने
एक श्याम शोभा बाँकी।
क्या शस्यश्यामल भूतल ने
दिखलाई निज नर-झाँकी।

[८३]

किंवा उतर पडा अवनी पर
कामरूप कोई घन था,
एक अपूर्व ज्योति थी जिसमे,
जीवन का गहरापन था।
देखा रमणी ने चरणो मे—
नत लक्ष्मण को उसने भेट—
अपने बडे क्रोड मे विधु-सा
छिपा लिया सब ओर समेट॥

[८४]

सीता बोली—"नाथ, निहारो
यह अवसर अनमोल नया;
देख तुम्हारे प्राणानुज का
तप सुरेन्द्र भी डोल गया!
माना इनके निकट नही है
इन्द्रासन की कुछ गिनती,
किन्तु अप्सरा की भी क्यो ये
सुनते नही नम्र विनती?

[८५]

तुम सबका स्वभाव ऐसा ही
निश्चल और निराला है,
और नही तो आई लक्ष्मी
कौन छोडने वाला है?
कुम्हला रही देख लो, कर में
स्वयवरा की वरमाला,
किन्तु कण्ठ देवर ने अपना
मानो कुण्ठित कर डाला॥"

[८६]

मुसकाकर राघव ने पहले
देखा तनिक अनुज की ओर,
फिर रमणी की ओर देखकर
कहा अहा! ज्यों बोले मोर—
'शुभे, बताओ कि तुम कौन हो
और चाहती हो तुम क्या?"
छाती फूल गई रमणी की
क्या चन्दन है, कुंकुम क्या!

[८७]

बोली वह—"पूछा तो तुमने
'शुभे, चाहती हो तुम क्या?'
इन दशनों-अधरों के आगे
क्या मुक्ता है, विद्रुम क्या?
मैं हूँ कौन वेश ही मेरा;
देता इसका परिचय है,
और चाहती हूँ क्या, यह भी
प्रकट हो चुका निश्चय है॥

[८८]

जो कह दिया, उसे कहने मे
फिर मुझको सकोच नही,
अपने भावी जीवन का भी
जी मे कोई सोच नही।
मन मे कुछ, वचनो मे कुछ हो
मुझमे ऐसी बात नही;
सहज शक्ति मुझमे अमोघ है,
दाव, पेच या घात नही॥

[८९]

मैं अपने ऊपर अपना ही
रखती हूँ अधिकार सदा,
जहाँ चाहती हूँ करती हूँ
मैं स्वच्छन्द विहार सदा।
कोई भय मैं नही मानती
समय-विचार करूँगी क्या?
डरती हैं बाधाएँ मुझसे,
उनसे आप डरूँगी क्या?

[६०]

अर्द्धयामिनी होने पर भी
इच्छा हो आई मन मे,
एकाकिनी घूमती-फिरती
आ निकली मैं इस वन मे।
देखा आकर यहाँ तुम्हारे
प्राणानुज ये बैठे हैं,
मूर्त्ति बने इस उपल शिला पर
भाव-सिन्धु मे पैठे हैं॥

[६१]

सत्य मुझे प्रेरित करता है,
कि मैं उसे प्रकटित कर दूँ,
इन्हें देख मन हुआ कि इनके
आगे मैं उसको धर दूँ।
वह मन, जिसे अमर भी कोई
कभी क्षुब्ध कर सका नही;
कोई मोह, लोभ भी कोई
मुग्ध, लुब्ध कर सका नहीं॥

[९२]

इन्हे देखती हुई आड़ मे
वडी देर मैं खड़ी रही,
क्या वतलाऊँ किन हावो मे,
किन भावों मे पडी रही?
फिर मानो मन के सुमनो से
माला एक वना लाई,
इसके मिस अपने मानस की
भेट इन्हे देने आई॥

[९३]

पर ये तो वस—'कहो कौन तुम?'
करने लगे प्रश्न छूँछा,
यह भी नहीं—'चाहती हो क्या'
जैसा अव तुमने पूँछा।
चाहे दोनों खरे रहें या
निकलें दोनो ही खोटे,
वड़े सदैव वडे होते हैं,
छोटे रहते हैं छोटे॥

[६४]

तुम सबका यह हास्य भले ही
करता हो मेरा उपहास
किन्तु स्वानुभव, स्वविचारो पर
मुझको पूरा विश्वास।
तो अब सुनो बडे होने से
तुममे बडी बडाई है,
दृढ़ता भी है, मृदुता भी है,
इनमे एक कडाई है।

[६५]

पहनो कान्त, तुम्ही यह मेरी
जयमाला - सी वरमाला,
बने अभी प्रासाद तुम्हारी,
यह एकान्त पर्णशाला।
मुझे ग्रहण कर इस भामा के
भूल जायेंगे ये भ्र - भग,
हेमकूट कैलास आदि पर
सुख भोगोगे मेरे सग।'

[९६]

मुसकाई मिथिलेशनन्दिनी—
"प्रथम देवरानी फिर सौत !
अगीकृत है मुझे, किन्तु तुम
मांगो कही न मेरी मौत ।
मुझे नित्य दर्शन भर इनके
तुम करती रहने देना,
कहते हैं इसको ही—अँगुली
प्रकड़ प्रकोष्ठ पकड लेना !"

[९७]

रामानुज ने कहा कि "भाभी,
है यह बात अलीक नही—
औरो के झगड़े मे पडना
कभी किसीको ठीक नही ।
पचायत करने आई थी
अब प्रपच मे क्यों न पड़ो,
वचित हो होना पड़ता है
यदि औरो के लिए लडो ॥"

[६८]

राघवेन्द्र रमणी से बोले—
"बिना कहे भी वह वाणी,
आकृति से ही प्रकृति तुम्हारी
प्रकटित है हे कल्याणी!
निश्चय अद्भुत गुण हैं तुममे,
फिर भी मैं यह कहता हूँ—
गृहत्याग करके भी वन मे
सपत्नीक मैं रहता हूँ॥

[६९]

किन्तु विवाहित होकर भी यह
मेरा अनुज अकेला है,
मेरे लिए सभी स्वजनो की
कर आया अवहेला है।
इसके एकागी स्वभाव पर
तुमने भी है ध्यान दिया,
तदपि इसे ही पहले अपने
प्रबल प्रेम का दान दिया॥

[१००]

एक अपूर्व चरित लेकर जो
उसक पूर्ण बनाते हैं,
वे ही आत्मनिष्ठ जन जग मे
परम प्रतिष्ठा पाते हैं।
यदि इसको अपने ऊपर तुम
प्रेमासक्त बना लोगी,
तो निज कथित गुणो की सबको
तुम सत्यता जना दोगी ॥

[१०१]

जो अन्धे होते हैं बहुधा
प्रज्ञाचक्षु कहाते हैं,
पर हम इस प्रेमान्ध बन्धु को
सब कुछ भूला पाते हैं।
इसके इसी प्रेम को यदि तुम
अपने वश मे कर लोगी,
तो मैं हँसी नही करता हूँ,
तुम भी परम धन्य होगी ॥"

[१०२]

भेद दृष्टि से फिर लक्ष्मण को
        देखा स्वगुण-गर्जनी ने,
वर्जन किया किन्तु लक्ष्मण की
        अधरस्थिता तर्जनी ने।
बोले वे—"बस, मौन कि मेरे
        लिए हो चुकी मान्या तुम,
यों अनुरक्ता हुईं आर्य्य पर
        जब अन्यान्य वदान्या तुम॥"

[१०३]

प्रभु ने कहा कि "तब तो तुमको
        दोनो ओर पड़े लाले,
मेरी अनुज-वधू पहले ही
        बनी आप तुम हे बाले।"
हुई विचित्र दशा रमणी की
        सुन यों एक एक की बात,
लगें नाव को ज्यों प्रवाह के
        और पवन के भिन्नाघात।

[१०४]

कहा क्रुद्ध होकर तव उसने—
'तो अव मैं आशा छोड ?
जो सम्वन्ध जोड वैठी थी
उसे आप ही अव तोडू ?
किन्तु भूल जाना न इसे तुम
मुझमे है ऐसी भी शक्ति,
कि झखमारकर करनी होगी
तुमको फिर मुझपर अनुरक्ति ॥

[१०५]

मेरे भृकुटि-कटाक्ष तुल्य भी
ठहरेंगे न तुम्हारे चाप,"
वोले तव रघुराज—"तुम्हारा
ऐसा ही क्यो न हो प्रताप।
किन्तु प्राणियो के स्वभाव की
होती है ऐसी ही रीति,
'पर-वशता हो सकती है पर
होती नहीं भीति मे प्रीति ॥"

[१०६]

इतना कहकर मौन हुए प्रभु
और तनिक गम्भीर हुए,
पर सौमित्रि न शान्त रह सके,
उन्मुख वे वरवीर हुए—
"और इसे तुम भी न भूलना,
तुम नारी होकर इतना—
अहम्भाव जब रखती हो तब
रख सकते हैं नर कितना?"

[१०७]

झङ्कृत हुई विषम तारों की
तन्त्री-सी स्वतन्त्र नारी,—
"तो क्या अबलाएँ सदैव ही
अबलाएं हैं—बेचारी?
नहीं जानते तुम कि देखकर
निष्फल अपना प्रेमाचार,
होती है अबलाएँ कितनी
प्रबलाएं अपमान विचार!

[१०८]

पक्षपात मय सानुरोध है
जितना अटल प्रेम का बोध,
उतना ही बलवत्तर समझो
कामिनियों का वैर-विरोध।
होता है विरोध से भी कुछ
अधिक कराल हमारा क्रोध,
और क्रोध से भी विशेष है
द्वेष-पूर्ण अपना प्रतिशोध॥

[१०९]

देख क्यों न लो तुम, मैं जितनी
सुन्दर हूँ उतनी ही घोर,
दीख रही हूँ जितनी कोमल
हूँ उतनी ही कठिन-कठोर!"
सचमुच विस्मयपूर्वक सबने
देखा निज समक्ष तत्काल—
वह अति रम्य रूप पल भर में
सहसा बना विकट-विकराल!

[११०]

सबने मृदु मारुत का दारुण
	झंझा - नर्तन देखा था,
सन्ध्या के उपरान्त तमी का
	विकृतावर्तन देखा था
काल-कीट-कृत वयस-कुसुम का
	क्रम से कर्तन देखा था,
किन्तु किसीने अकस्मात् कब
	यह परिवर्तन देखा था!

[१११]

गोल कपोल पलटकर सहसा
	बने भिडों के छत्तों-से,
हिलने लगे उष्ण साँसों से
	ओठ लपालप लत्तों-से!
कुन्दकली-से दाँत हो गये
	बढ़ बराह की डाढ़ों-से,
विकृत, भयानक और रौद्र रस
	प्रगटे पूरी बाढ़ों-से!

[११२]

जहाँ लाल साडी थी तनु मे
बना चर्म का चीर वहाँ,
हुए अस्थियो के आभूषण
थे मणिमुक्ता-हीर जहाँ!
कन्धो पर के बडे बाल वे
बने अहो! आँतो के जाल,
फूलों की वह वरमाला भी
हुई मुण्डमाला सुविशाल!

[११३]

हो सकते थे दो द्रुमाद्रि ही
उसके दीर्घ शरीर-सखा,
देख नखो को ही जँचती थी
वह विलक्षणी शूर्पणखा!
भय विस्मय से उसे जानकी
देख न तो हिल-डोल सकी,
और न जड प्रतिमा-सी वे कुछ
रुद्ध कण्ठ से बोल सकी॥

[११४]

अग्रज और अनुज दोनो ने
तनिक परस्पर अवलोका,
प्रभु ने फिर सीता को रोका
लक्ष्मण ने उसको टोका।
सीता सँभल गईं जो देखी
रामचन्द्र की मृदु मुसकान,
शूर्पणखा से बोले लक्ष्मण
सावधान कर उसे सुजान—

[११५]

"मायाविनि, उस रम्य रूप का
था क्या बस परिणाम यही?
इसी भाँति लोगों को छलना,
है क्या तेरा काम यही?
विकृत परन्तु प्रकृत परिचय से
डरा सकेगी तू न हमें,
अबला फिर भी अबला ही है
हरा सकेगी तू न हमें॥

[११६]

वाह्य सृष्टि-सुन्दरता है क्या
भीतर से ऐसी ही हाय!
जो हो, समझ मुझे भी प्रस्तुत,
करता हूँ मैं वही उपाय।
कि तू न फिर छल सके किसीको
मारूँ तो क्या नारी जान,
विकलांगी ही तुझे करूँगा,
जिससे छिप न सके पहचान।"

[११७]

उस आक्रमणकारिणी के झट
लेकर शाणित तीक्ष्ण कृपाण,
नाक कान काटे लक्ष्मण ने
लिये न उसके पापी प्राण।
और कुरूपा होकर तब वह
रुधिर बहाती, बिललाती;
धूल उड़ाती आँधी ऐसी
भगी वहाँ से चिल्लाती॥

[११८]

गूंजा किया देर तक उसका
हाहाकार वहाँ फिर भी,
हुई उदास विदेहनन्दिनी
आतुर एव अस्थिर भी।
होने लगी हृदय मे उनके
वह आतकमयी शका,
मिट्टी मे मिल गई अन्त मे
जिससे सोने की लका!

[११९]

"हुआ आज अपशकुन सवेरे,
कोई सकट पडे न हा!
कुशल करे कर्त्तार" उन्होने
लेकर एक उसाँस कहा।
लक्ष्मण ने समझाया उनको—
"आर्य्ये, तुम निःशक रहो,
इस अनुचर के रहते तुमको
किसका डर है तुम्ही कहो॥

[१२०]

नही विघ्न-बाधाओं को हम
स्वय बुलाने जाते हैं,
फिर भी वे यदि आजावें तो
कभी नही घवडाते हैं।
मेरे मत मे तो विपदाएँ
हैं प्राकृतिक परीक्षाएँ,
उनसे वही डरें कच्ची हो
जिनकी शिक्षा - दीक्षाएँ ॥"

[१२१]

कहा राम ने कि 'यह सत्य है
सुख-दुख सब हैं समयाधीन,
सुख मे कभी न गर्वित होवे
और न दुख मे होवे दीन।
जब तक सकट आप न आवें
तब तक उनसे डर माने,
जब वे आजावे तब उनसे
डटकर शूर समर ठाने॥

[१२२]

"यदि सकट ऐसे हो जिनको
तुम्हे बचाकर मैं झेलूं,
तो मेरी भी यह इच्छा है
एक वार उनसे खेलूं।
देखूं तो कितने विघ्नो की
वहन-शक्ति रखता हूँ मैं,
कुछ निश्चय कर सकूं कि कितनी
सहन शक्ति रखता हूँ मैं॥"

[१२३]

'नही जानता मैं, सहने को
अब क्या है अवशेष रहा ?
कोई कह न सकेगा, जितना
तुमने मेरे लिए सहा।"
"आर्य, तुम्हारे इस किंकर को
कठिन नही कुछ भी सहना,
असहनशील वना देता है
किन्तु तुम्हारा यह कहना॥"

[१२४]

सीता कहने लगी कि "ठहरो
रहने दो इन बातो को,
इच्छा तुम न करो सहने की
आप आपदाघातो को।
नही चाहिए हमे विभव-बल,
अब न किसीको डाह रहे,
बस, अपनी जीवन-धारा का
यो ही निभृत प्रवाह बहे॥

[१२५]

हमने छोडा नही राज्य क्या,
छोडी नही राज्य-निधि क्या?
सह न सकेगा कहो, हमारी
इतनी सुविधा भी विधि क्या?"
"विधि की बात बडो से पूछो
वे ही उसे मानते हैं;
मैं पुरुषार्थ पक्षपाती हूँ,
इसको सभी जानते हैं॥"

[१२२]

"यदि सकट ऐसे हो जिनको
तुम्हे बचाकर मैं झेलूं,
तो मेरी भी यह इच्छा है
एक वार उनसे खेलूं।
देखूं तो कितने विघ्नो की
वहन-शक्ति रखता हूँ मैं,
कुछ निश्चय कर सकूं कि कितनी
सहन शक्ति रखता हूँ मैं॥"

[१२३]

'नही जानता मैं, सहने को
अब क्या है अवशेष रहा?
कोई कह न सकेगा, जितना
तुमने मेरे लिए सहा।"
"आर्य, तुम्हारे इस किंकर को
कठिन नही कुछ भी सहना,
असहनशील वना देता है
किन्तु तुम्हारा यह कहना॥"

[१२४]

सीता कहने लगी कि "ठहरो
रहने दो इन बातो को,
इच्छा तुम न करो सहने की
आप आपदाघातो को।
नही चाहिए हमे विभव-बल,
अब न किसीको डाह रहे,
बस, अपनी जीवन-धारा का
यो ही निभृत प्रवाह बहे॥

[१२५]

हमने छोडा नही राज्य क्या,
छोडी नही राज्य-निधि क्या ?
सह न सकेगा कहो, हमारी
इतनी सुविधा भी विधि क्या ?"
"विधि की बात बड़ो से पूछो
वे ही उसे मानते हैं;
मैं पुरुषार्थ पक्षपाती हूँ,
इसको सभी जानते हैं॥"

[१२६]

यह कहकर लक्ष्मण मुसकाये,
रामचन्द्र भी मुसक ,
सीता मुसकाईं, विनोद के
पुन प्रमोद भाव
"रहो रहो पुरुषार्थ यही है,—
पत्नी तक न सा
कहते कहते वैदेही '
नेत्र प्रेम से

[१२७]

"चलो नदी को घडे उठा
करो और '
मैं मछलियाँ चुगाने
ले चलती
घडे उठाकर खडे
तत्क्षण
बोल उठे मानो
राघव म

[१२८]

"तनिक देर ठहरो, मैं देखूं
तुम देवर - भाभी की ओर,
शीतल करूँ हृदय यह अपना
पाकर दुर्लभ हर्ष-हिलोर!"
यह कहकर प्रभु ने दोनो पर
पुलकित होकर सुध-बुध भूल,
उन दोनो के ही पाँवो के
बरसाये नव विकसित फूल ॥

——

[१२६]

यह कहकर लक्ष्मण मुसकाये,
रामचन्द्र भी मुसकाये,
सीता मुसकाईं, विनोद के
पुन प्रमोद भाव छाये।
"रहो रहो पुरुषार्थ यही है,—
पत्नी तक न साथ लाये,"
कहते कहते वैदेही के
नेत्र प्रेम से भर आये॥

[१२७]

"चलो नदी को घडे उठा लो,
करो और पुरुषार्थ क्षमा,
मैं मछलियाँ चुगाने को कुछ
ले चलती हूँ धान, समा।"
घडे उठाकर खडे हो गये
तत्क्षण लक्ष्मण गद्गद-से,
बोल उठे मानो प्रमत्त हो
राघव महा मोद-मद से—